

उपनिवेशवाद: स्त्री अस्मिता का प्रश्न

डॉ. रामचन्द्र रजक

हिन्दी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तावना

उपनिवेशवाद के दौरान स्त्रियों की स्थिति मनुष्य जैसे नहीं बल्कि वस्तु जैसी थी जिस पर बहुत ध्यान नहीं दिया जाता था। सती प्रथा, बहु-विवाह, बाल विवाह, विधवा पुनर्विवाह, वैवाहिक उम्र की सीमा आदि कुछ ऐसे कठोर विरोध थे जो हिन्दू समाज सुधारकों के प्रयासों के फलस्वरूप हिन्दू औरतों में सुधार लाने के लिए ब्रिटिश भारत में पारित किये गए थे। राजा राममोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उन सुधारकों में सर्वप्रथम थे जिन्होंने सतीप्रथा की समाप्ति एवं विधवा विवाह का समर्थन किया। बुरी प्रथाओं से मुक्त कर स्त्रियों की उच्च स्थिति की इच्छा व्यक्त की। स्त्री अस्मिता का प्रश्न समाज सुधारकों एवं ब्रिटिश शासकों दोनों ओर से आए। अंग्रेजों ने इसे विधि सम्मत आधार देने हेतु प्रयुक्त किया। इनमें अन्तर्विरोध भी पाये गये किन्तु यहाँ पर इसका उल्लेख नहीं किया जायेगा, उनकी चर्चा आगे संदर्भों के बीच में किया जायेगा। इतने अन्तर्विरोधों और अंसंगतियों के बावजूद पुनर्जागरण काल की प्रवृत्तियों ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति सुधारने का प्रयास अवश्य किये। समाज में प्रचलित घृणित रीति-रिवाज के विरुद्ध जनमानस जागृत करने के प्रयासों की शुरुआत इस युग में हुई। सती प्रथा, कन्या हत्या, बाल विवाह, वैधव्य और स्त्रियों की अशिक्षा जैसी सामाजिक बुराईयों को समाप्त करने के प्रयत्नों की ओर सरकार और सुधारक प्रेरित हुए। परिणामस्वरूप स्त्रियों की स्थिति में बदलाव की जमीन स्त्रियों का उपनिवेश के खिलाफ संघर्ष उनका आत्मसंघर्ष ही है। उपनिवेश के दौर में “स्त्री मुक्ति कामना से छटपटा रही है, उसका प्रयास भी यही है लेकिन उपनिवेश के वर्चस्व से उसका मनोजगत आज भी आक्रान्त है।”¹

बदलाव की मुहिम को टूटना नहीं कहा जाना चाहिए। अगर पारिवारिक मानवीय है तो अपनी वैचारिक संभावनाओं सहित नारीवाद परिवार और समाज के मानवीय मूल्यों को नष्ट करने के बजाय, बचाना चाहेगी किन्तु वह पारम्परिक समाज व्यवस्था को परिवर्तित जरूर करना चाहती है। पितृसत्ता में सबसे करीब स्त्री ही रहती आयी है मगर यथार्थ में स्त्री कभी मसीहा नहीं बनी। जातिकरण लैंगिकीकरण एव यौनिकता स्त्री को दमन की इन तीनों प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। पुरुष की प्रधानता स्त्री की हीनता पर फलती-फूलती है। इस संदर्भ में कैरन हार्नी का तर्क था— “जैविकता नहीं बल्कि यह समाज है जो स्त्री मानस में लिंग-द्वेष को प्रोत्साहित करता है।”² एंगेल्स ने ने औरतों की दासता की जड़ परिवार को करार दिया और सूत्रीकरण किया कि—“परिवार के अन्दर स्त्री सर्वहारा की तरह होती है और पुरुष पूँजीपति की तरह। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के खात्मे के साथ ही, परिवार का आधार खत्म हो जायेगा और नारी-मुक्त की सम्भावनाओं का द्वार खुल जायेंगे।”³

नवजागरण के दौरान स्त्री शिक्षा का प्रश्न बड़े जोर-शोर से उठाया गया। 19वीं सदी में शुरू में स्त्री शिक्षा की कोई परम्परा नहीं थी और व्यापक जनमत इसके खिलाफ था। स्त्री शिक्षा का काम 1820 के करीब सबसे पहले बंगाल और बम्बई में ईसाई मिशनरियों की पत्नियों ने प्रारम्भ किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शिक्षा परिषद के

अध्यक्ष बेथून ने इसे आगे बढ़ाया और 1849 में कलकत्ता में हिन्दू बालिका विद्यालय की स्थापना की, जो भारतीय इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी घटना थी। उसके बाद ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बेथून के प्रयास को आगे बढ़ाया और 1870 के दशक में बंगाल में स्त्रियों को आधुनिक शिक्षा देने के लिए भी आन्दोलन चला, द्वारिकानाथ गांगूली ने इसका समर्थन किया।

बंगाल में ऐसी घटना के परिणाम स्वरूप महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले और सावित्री बाई फुले ने स्त्री शिक्षा में अग्रणी भूमिका निभाई। ज्योतिबा फुले ने 1848 में लड़कियों के लिए और 1852 में दलितों के लिए पूना में स्कूल खोले। सामान्यतया स्त्री अस्मिता का प्रश्न अथवा आत्मनिर्णय, स्वावलंबन, आत्मसम्मान, स्त्री मुक्ति आन्दोलन के सुदृढ़ आधार हैं।

पंजाब के नवजागरण में स्त्री शिक्षा को विशेष महत्व दिया गया। 1890 में स्थापित लाला देवराज द्वारा ‘जालंधर कन्या महाविद्यालय’ की महत्वपूर्ण भूमिका थी। ‘जाल विद सखा’ में इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। पत्रिका का महत्वपूर्ण रोल यूरोप के स्त्री आंदोलन का नेतृत्व करने वाली और दूसरी महान स्त्रियों के बारे में लगातार लिखते रहे। इस स्कूल की सबसे बड़ी उपलब्धि थी लड़कियों के अन्दर अपने व्यक्ति होने की, अपनी पहचान की भावना पैदा कर देना, अपने को समझने और समझाने की। मैं भी इंसान हूँ का बोध होने का।

स्त्री असमानता पर भारतीय बुद्धिजीवियों की ओर संकेत करते हुए गोपा जोशी का कहना है कि— “अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार और प्रसार के साथ-साथ भारतीय क्षितिज में भी नवजागरण का तारा चमका। पश्चिमी शिक्षा के प्रचार-प्रसार से वहाँ की उदारवादी विचारधारा से प्रभावित बुद्धिजीवियों तथा समाज सुधारकों की एक जमात तैयार हो गयी। इस जमात के अधिकांश सदस्य ऊँची जातियों और संभ्रांत परिवारों से थे। कट्टरपंथी रूढ़ियों, परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों से इन्हीं जातियों की स्त्रियाँ सर्वाधिक जकड़ी थीं। उन्नीसवीं सदी के बदलते परिवेश में पारम्परिक अर्थों में गुण-सम्पन्न नारी औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था से लाभान्वित तथा पश्चिम संस्कृति से प्रभावित पुरुषों की अपेक्षाओं में खरी नहीं उतर पा रही थी बाल विवाह, सती प्रथा, विधवा-विवाह आदि सामाजिक बुराईयों से जकड़ी होने के कारण ऊँची जाति की स्त्रियों को नए वातावरण के अनुरूप ढलने में कठिनाइयाँ हो रही थी। इन परेशानियों को दूर करने के लिए तत्कालीन समाज सुधारकों ने पश्चिम उदारवादी विचारधारा के गिने चुने अंशों को अपनाया। इन समाज सुधारकों के उदारवादी विचारधारा बाल विवाह, विधवा की अभिशप्त जीवनचर्या तथा सती प्रथा के विरुद्ध उद्वेलित कर रही थी। नतीजन इन समाज सुधारकों ने तत्कालीन शासकों के साथ मिलकर सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए कई प्रकार के महत्वपूर्ण कदम उठाए।”⁴

और ये स्कूली लड़कियाँ कुछ समय बाद नवजागरण की विचारधारा व स्त्री शिक्षा का प्रचार-प्रसार केवल जालंधर तक में ही नहीं बल्कि पूरे भारत में करने लगी। 19वीं सदी के बीच भारत में ऐसी स्त्रियों की छवि एक नयी बात थी। इस दौर में सम्पूर्ण भारत में

स्त्री शिक्षा के लिए स्कूल व विद्यालयों की अधिक से अधिक संख्या में स्थापना की जाने लगी थी। इसी समय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना कर नारी जागरण को और सुगम बना दिया। स्त्रियों की शिक्षा उनके आत्मनिर्भर होने की बात, सती-प्रथा, कन्या-हत्या, बाल-विवाह, बहुविवाह, विधवा पुनर्विवाह जैसे आदि प्रथाओं की कुरूपताओं को खत्म करने का बीड़ा उठाया जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियाँ एक बेहतर जीवन की ओर बढ़ी जिससे उनकी अपनी अस्मिता एवं पहचान का रक्षा हो सकती।

स्त्री शिक्षा के समर्थन में कहना है कि- “19वीं शताब्दी के भारत के प्रारम्भिक वर्षों में ही दयनीय अवस्था को प्राप्त अनेकानेक परम्पराओं एवं प्रथाओं की शिक्षा इस नारी की स्थिति के सुधार के लिए समाज सुधारकों का ध्यान उसकी शिक्षा के प्रति नवीन जागृति दिखायी पड़ी।”⁵

नवजागरण का सीधा फायदा स्वतंत्रता आंदोलनों में दिखायी दिया जहाँ स्त्रियाँ घर की चार दीवारी को पारकर उसमें हिस्सा लेने लगी। इस उपनिवेशवाद के दौर में स्त्रियों को दोहरे संघर्ष करने पड़े लेकिन इनकी मुक्ति का मार्ग इसी संघर्ष से प्रशस्त भी हुआ। ए.एस. अल्तेकर के कथन का हवाला देते हुए रेखा कस्तवार ने लिखा- “यह वह समय था जब भारतीय समाज विदेशी शासन की गुलामी झेल रहा था। स्त्रियों की गुलामी इस मायने में दोहरी थी कि वे एक ओर भारतीय समाज का हिस्सा होने के नाते विदेशी गुलामी की शिकार तो थी ही। इसके साथ-साथ पुरुषों द्वारा तथा उनके द्वारा नियंत्रित गुलामी झेलने को अभिशप्त थीं। राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सेदारी की शुरुआत में दोहरी दासता से संपर्क के बीज थे। औपनिवेशिक सत्ता से और परिवारिक सत्ता से। ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध आन्दोलन में महिलाओं के जुड़ाव ने जहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन को मजबूत किया वहीं स्त्री मुक्ति के अवसर भी घने किए। इस आन्दोलन में स्त्रियों के जुड़ाव से सामाजिक-न्याय के पक्ष में स्वयं उनका संघर्ष प्रेरित हुआ जिसे संघर्ष के अन्तर्गत संघर्ष कहा जाता है।”⁶

नीरजा माधव का कहना है कि- “वास्तव में आधुनिक स्त्री विमर्श की शुरुआत भी इसी दौर से होती है। एक तरफ सन् 1857 की क्रान्ति के पीछे सिपाहियों की धार्मिक और सांस्कृतिक आस्थाएं आधार बनी थीं, किसान आन्दोलन और श्रमिक आन्दोलन उसे सहारा दे रहे थे, वहीं पर उसी कालखण्ड में स्त्रियों की भी ऐसी काफी संख्या है, जिन्होंने अपनी स्वतंत्र अस्मिता का परिचय देते हुए अंग्रेजी सत्ता से जूझने और शहीद होने की वीरता दिखाई। पर्दा प्रथा, पुरुषवादी व्यवस्था में जब उनकी स्वतंत्र अस्मिता की कल्पना समाज नहीं कर सकता था, वैसे में रानी लक्ष्मीबाई, महकपरी, अजीजन जैसी वीरांगनाओं का सैन्य संगठन, वीरता और नेतृत्व की क्षमता और अपने स्त्री होने की उस दकियानूसी नियति से इंकार करना एक असाधारण घटना थी, जिसने इस आन्दोलन के साथ एक बड़े स्त्री-समुदाय को जोड़ा।”⁷

स्वतंत्रता आन्दोलन में स्त्रियों द्वारा धरना देना, जुलूसों में चलना, जेल थाना, पुलिस बर्बरता का सामना करना, स्वदेशी आन्दोलन आदि में सम्मिलित होकर वीरता का परिचय दिया गया। परिवार चलाने के साथ जेल में बंद आंदोलनकर्ताओं की हर तरह मदद करना, आन्दोलन की गति बनाए रखने का कार्य महत्वपूर्ण रहा है। “राष्ट्रीय क्रान्ति आन्दोलन की प्रत्येक गतिविधि में भारतीय स्त्रियों ने सक्रिय व सशक्त योगदान दिया। फंड एकत्र करना, आश्रय प्रदान करना, सूचनाओं, गुप्त दस्तावेजों के आदान-प्रदान के साथ ही हथियार बन्द कार्यवाही में भी महिलाओं ने नेतृत्व व हिस्सेदारी निभाई। संघर्ष के अवसरों पर कई बार पहल की व संगठन सम्बन्धी प्रश्नों में गहरी रुचि थी।”⁸

इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं, तो हम पाते हैं कि वहाँ स्त्री के अस्तित्व को ही नकारा गया है। ‘सीमोन द बोउबा’ ने स्त्री

स्वाधीनता को परिभाषित करते हुए कहा है- “स्त्री स्वाधीनता का अर्थ हुआ कि स्त्री पुरुष से जिस परम्परिक सम्बंध को निभा रही हैं, उससे मुक्त हो.उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व होगा और वह पुरुष की होकर भी जीएगी। दोनों अपनी-अपनी स्वायत्तता में दूसरे का अनन्य रूप भी देखेंगे। सम्बन्धों की पारस्परिकता और अन्योन्याश्रिता से वह अधिकार, प्रेम और आमोद-प्रमोद के अर्थ समाप्त नहीं हो जाएंगे और न ही समाप्त होंगे दो वर्गों के बीच के शब्द देना, प्राप्त करना, मिलन होना बल्कि दासत्व अब समाप्त होगा और वह भी आधी मानवता का, तब व्यवस्था का सारा ढोंग समाप्त हो जाएगा।”⁹

असहयोग आन्दोलन और नागरिक अवज्ञा आन्दोलन, नमक सत्याग्रह में हिंसा के विरुद्ध बड़ी संख्या में स्त्रियों ने घर की दहलीज लाँघकर विरोध जताया। 15 नवम्बर 1930 को लगभग 360 औरतों के जेल में बन्द होने की प्रतिक्रिया में सुमित सरकार संयुक्त प्रांत के पुलिस अधिकारी की एक टिप्पणी को उद्धृत करते हैं- “भारतीय औरतें एक ही साथ घरेलू और राष्ट्रीय आजादी के लिए संघर्षरत हैं और औरत के अनुरूप अपनी माँगों तथा विधियों में अन्यत्र अविवेकी और अतार्किक हैं, किन्तु उनका पुरुष वर्ग पर एक औरत के समान ही बहुत ज्यादा प्रभाव हैपुलिस अधिकारियों समेत अनेक स्वामिभक्त अधिकारियों को अपने स्त्री सम्बन्धियों के ताना और गालियों की इतनी मार झेलती पड़ी हैं जितनी किसी अन्य क्षेत्र से नहीं।”¹⁰

उच्च वर्ग की महिलाओं पर भी कई तरह के प्रतिबन्ध लगाए गये। गीत, होली, मेला, सिनेमा और थियेट्रों में उनकी भागीदारी को लेकर सुधारवादी रवैया भी दिखायी दिया है। शादी के अवसर पर गाये जाने वाली गालियों को भ्रष्ट करने तथा असभ्य और अयोग्य बनाने के बतौर देखा जाने लगा। 1874 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपनी पत्रिका ‘बालाबोधनी’ में इस का विरोध करते हैं। प्रसिद्ध पत्रिका चॉद के एक लेख में कहा गया है कि- “स्त्रियों की जबान से गुप्तांगों का नग्न वर्णन, एक स्त्री पर पर-पुरुष से सम्बन्ध सूचक गायनों का गाया जाना, रंगरेलियों का वर्णन आदि बड़ा घृणित है। स्त्रियों के इस व्यसन का छोटी-छोटी बालिकाओं के अपरिपक्व मस्तिष्क पर कुत्सित प्रभाव पड़ता है। इन बुरे ऐबों से आगे पढ़ने-लिखने आदि की अच्छी बातों से घृणा पैदा हो जाती है तथा तीज-त्यौहार, नाच, गाना, मेले, तमाशों की ओर उनकी अभिरुचि बढ़ती है।”¹¹ इस तरह से औपनिवेशिक भारत में स्त्रियों पर नियंत्रण लगाए जा रहे थे।

यूरोप में प्रबोधन के पश्चात् समाज में स्वतंत्रता, समानता और न्याय की अवधारणा को विकसित किया। स्त्रियों ने इस अवधारणा को आत्मसात करते हुए अपने लिए भी इससे सम्बद्ध अधिकारों की मांग की। 19वीं सदी में यूरोप में महिलाओं का जनजागरण भी सामने आया। अन्ना कारेनिना जैसे उपन्यासों या मोपासां की कहानियों में मौजूद स्त्रियों के माध्यम से हम यूरोपीय समाज में स्त्री नवजागरण की लहर पहचान सकते हैं। बड़े पैमाने पर महिलाएँ लेखन में आयी। इस प्रकार राष्ट्रवाद की अवधारणा का विकास मध्यकालीन संस्कारों से मुक्ति के रूप में हुआ परिणामस्वरूप मध्यवर्गीय स्त्री चेतना से भी संघर्ष हुआ। इस तरह वहाँ के राष्ट्रवाद की चेतना ने न चाहते हुए भी आधुनिक स्त्री-चेतना के विकसित होने में सहयोग दिया जिसका प्रभाव भारतीय स्त्री-लेखन में भी दिखायी दे जाता है। उस समय स्त्रियों को छद्म नाम से लिखना पड़ रहा था। अभय कुमार दुबे लिखते हैं- “स्त्री के अधिकारों की दावेदारी जब शुरू हुई, उस समय तक राष्ट्रवाद के कदम यूरोप में पूरी तरह जम चुके थे। उसकी जीत में औरतों की हिस्सेदारी थी, पर उसके बदले औरत को उसका हिस्सा देने के लिए वह कत्तई तैयार नहीं था।”¹² अपने देश में भी राष्ट्रवाद के भीतर स्त्रीवाद का विरोध एक हद तक अंतर्निहित है वे मुखर विरोध नहीं कर सकती थी। वे अपनी

मुक्ति और राष्ट्र की मुक्ति के प्रश्न को, उस दौर में अलग कर नहीं देख सकती थीं। भारतीय स्त्रीवाद के साथ आरम्भ से ही वह द्वंद मौजूद रहा। अभय कुमार दुबे कहते हैं कि भारतीय स्त्रीवादी चिंतकों ने राष्ट्रवादी चेतना के साथ सहयोग और संघर्ष के द्वैत स्त्रीवादी चिंतकों ने राष्ट्रवादी चेतना के साथ सहयोग और संघर्ष के द्वैत का रास्ता चुना— “लेकिन इतिहास गवाह है कि भारतीय स्त्रियों ने ऐसा न करके एक दोहरी लड़ाई लड़ी। उन्होंने राष्ट्रवाद की उपनिवेशवाद विरोधी राजनीतिक दावेदारी में अपना स्तर मिलाना मंजूर किया, क्योंकि उसके माध्यम से उनके लिए एक नया दिगंत खुल रहा था। दूसरी तरफ उन्होंने राष्ट्रवाद की मर्दवादी सांस्कृतिक, अभिव्यक्तियों और जकड़बन्दियों को चुनौतियाँ देते हुए राष्ट्रवादी एजेंडे में नारीवादी एजेन्सी के जरिये पितृसत्ता विरोधी पहलुओं का समावेश करने का यत्न किया।”¹³ भारतीय नारीवादी आन्दोलन का यह स्वरूप उसे यूरोपीय नारीवाद से अलगता है। आजादी से पहले देश सामाजिक और सांस्कृतिक लिबास के जिस रास्ते पर चल पड़ा था, आजादी के उन्माद में वह दिशा ही बदल गई। आजादी से पूर्व जो प्रश्न समाज के बहुस्तरीय संवाद का हिस्सा था, आजादी के उपरान्त वह संस्थाओं के दायरे में महदूद होकर रह गया। यहीं से स्त्री प्रश्न को लेकर एक क्रमभंग की स्थिति पैदा हुई। समाज में स्त्री का मूल्य तो बढ़ा लेकिन उस विकास के मूल में आर्थिक विकास का लक्ष्य ही था। स्त्री घर की चौहदियों के बाहर निकली, मगर इस अर्थ में कि वह धनोपार्जन में परिवार और पुरुष का सहयोग करे। स्त्रीवादीयों ने इस बात को खूब प्रचारित प्रसारित किया कि मुक्त स्त्री की परिकल्पना तभी संभव है जब वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र और आत्मनिर्भर हो। यह बात एक हद तक सही थी लेकिन यह पूर्णतया सही नहीं थी क्योंकि आर्थिक निर्भरता की कीमत उसे चुकानी पड़ रही थी। यहाँ से स्त्री देह के व्यवसायीकरण के नये सूत्र बनाए गये। समाज में कामशास्त्र का नया मनोविज्ञान विकसित किया गया। व्यवसायीकरण ने समाज में स्त्री को महज देह में बदल दिया। इस सब का उद्देश्य यह था कि सेक्स को मूर्त और अमूर्त, भौतिक और मनोविज्ञान दोनों अर्थों में समाज की चेतना का हिस्सा बना दिया जाए। यहाँ प्रश्न सेक्स को लेकर नहीं बल्कि प्रश्न यह था सेक्स की बढ़ती व्यावसायिकता को लेकर। समाज में हर वर्ग की इसकी जरूरत थी इसलिए, इसे बहुस्तरीय रूप दिया गया। सेक्स की इस बहुस्तरीयता में सेक्स को तमाम संचार माध्यमों के द्वारा एक काल्पनिक आनन्द में बदल दिया। फ्रायड के हवाले से अभय कुमार दुबे लिखते हैं— “फ्रायड ने बीसवीं सदी की शुरुआत में हमें बताया था कि इंसान की देह का हर अंग एक नहीं, दो काम करता है। एक काम कुदरती और सेक्शुअल।”¹⁴

इस तरह हर स्त्री उसे काम की देवी नजर आने लगती है— “देह और दैहिक आनन्द की केंद्रियता के कारण प्रेम मित्रता, भाई चारे और रक्त सम्बंधों की शकल कुछ से कुछ हो जाती है। जिसमें पूरा मॉस मीडिया, बुद्धिजीवी हल्के, सरकार, राजनीतिक पार्टियाँ, धर्माचार्य, मानवाधिकारों के समर्थक, इस तरह के नैतिकतावादी और मूर्तिभंजक साफ तौर पर पक्ष विपक्ष में खड़े नजर आते हैं।”¹⁵

इस प्रकार समूचा समाज सेक्सुअलिटी के फन्दे में उलझ जाता है। इस समूची प्रक्रिया में देह विमर्श की राजनीति भी उत्तरोत्तर एक विकृत रूप अख्तियार करने लगती है। स्त्री की चेतना और उसके शरीर दोनों का ही वस्तुकरण होने लगता है। यहाँ स्त्री उपनिवेश की तरह नजर आने लगती है। इस संदर्भ में सार्त्र के कथन का उल्लेख करना समीचीन हो जाता है कि— “उपनिवेशवाद की प्रक्रिया दोनों को पतन तक ले जाती है क्योंकि इस प्रक्रिया में और इससे संघर्ष में वर्चस्ववाद की चेतना नहीं मिटती। हर पल में वह प्रबल हो जाती है। देह विमर्श के साथ भी यही संकट है। देह के

उपभोग की चतना, उसे विषय से वस्तु में बदल देती है। संस्थाओं और ज्ञान माध्यमों द्वारा इसे संभव बनाया जाता है। स्त्री देह को उपनिवेश बनाने के लिए यह जरूरी है कि समाज की चेतना में उसे एक समस्या के रूप में प्रस्तुत किया जाए। हर बलात्कार को संचार माध्यमों से बढ़ चढ़कर प्रचारित किया जाता है। समाज में इसके बहाने हिस्टीरिया को निर्मित किया जाता है। स्त्री देह की सुरक्षा के बहाने उस पर वर्चस्व के नये स्तर विकसित किये जाते हैं। यह बात प्रसारित नहीं की जाती कि नारी बलात्कार में स्त्री से कम नुकसान पुरुष का नहीं होता। इस समूची प्रक्रिया में जिस तरह विमर्शवादी हस्तक्षेप करते हैं, उससे यह बात पुष्ट होने लगती है कि स्त्री अधीन है और अपनी देह की सुरक्षा के लिए वर्चस्व का इस्तेमाल करने लगती है। वह खुद ही विभाजित होने लगती है। उसकी देह और उसकी चेतना एक दूसरे को नियंत्रित करने लगते हैं। वस्तुकरण की यह प्रक्रिया इस अर्थ में ने सिर्फ बाह्य रह जाती है, बल्कि वह एक आन्तरिक प्रक्रिया भी बन जाती है। ऐसे में स्त्री की कोख से स्त्री नहीं बल्कि देह पैदा होती है, समाज ने पहले ही जिसका वस्तुकरण दोनों अर्थों में कर दिया है।”¹⁶

समाज में स्त्रियों के प्रति ऐसी धारणा को तोड़ने के समकालीन कथाकारों ने बीणा उठाया और एक स्वर में यह कहने लगी है कि उसकी देह पर अब किसी दूसरे का अधिकार नहीं उसका अधिकार होना चाहिए ताकि वह पुनः उपनिवेशित न हो सके।

औपनिवेशिक भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह बात उभर कर सामने आयी कि यह समय नवजागरण का है जिसमें समूचे भारत में स्त्रियों से जुड़ी समस्याओं को उठाया गया, उनकी कुशितियों का अंत किया गया, कानून बने, स्त्रियों की शिक्षा के लिए स्कूल कालेजों की स्थापना की गयी, स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेकर स्त्रियों ने मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया, यह सब ऐतिहासिक तथ्य है। दूसरी तरफ सामाजिक सच कुछ और भी है कि इतने प्रयासों के बाद भी स्त्रियाँ मुक्त नहीं हो पायीं? स्त्रियों को अपनी मुक्ति की लड़ाई आज भी क्यों लड़नी पड़ रही है? सवाल उठता है कि नवजागरण काल में क्या सचमुच स्त्री मुक्ति की कामना दब गई? इन सवालों का सही जवाब मिले बिना उपनिवेशवाद के दौर में स्त्री की सही स्थिति का पता नहीं लगाया जा सकता है, और आज भी स्त्री मुक्ति के सामने जो समस्याएँ आ रही हैं, जो चुनौतियाँ हैं, उनकी जड़ तक नहीं पहुँचा जा सकता है। नवजागरण के दौर में भारतीय समाज सुधारक पूर्व और पश्चिम के जीवन मूल्यों में से चुनाव, मध्यकालीन मूल्यों को तोड़ने के बीच डांवाडोल थे। एक ओर उन्हें पाश्चात्य दृष्टि अपनाना गुलामी का प्रतीक लगा वहीं भारतीय अतीत अंधविश्वासों से भरा मध्यवर्गीय मानसिकता के चलते उन्होंने नवीनता का आग्रह अपने सार्वजनिक मूल्यों के लिए स्वीकारा और व्यक्तिगत निर्णयों में परम्परा का साथ दिया। पवन कुमार वर्मा ने लिखा है— “देशी अभिजन उपनिवेशवादी स्वामियों के मॉडल की नकल तो करता ही था क्योंकि उसमें विदेशी संस्कृति की सभ्यता मूलक मानकों की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया था और वैर-भाव इस प्रक्रिया में एक अस्वीकार भी था।”¹⁷

इस प्रकार औपनिवेशिक भारतीय समाज में स्त्रियों का अहिंसक व सशस्त्र आन्दोलन में भाग लेना साहसिक और प्रेरणादायक कार्य था। इस रूढ़िवादी जड़ समाज में जहाँ पर्दा प्रथा, बहुविवाह, बाल विवाह, परम्परागत जीवन मूल्य एवं मान्यताएँ, अशिक्षा एवं अमानवीय व्यवहार जैसी बाधाएँ स्त्रियों के विकास के कार्य को अवरुद्ध करती थी, स्त्रियों ने इन सभी बंधनों को तोड़कर हथियार उठाकर कोर्ट कचहरी तक अपनी उपस्थिति दे, बड़े-बड़े जुलूसों में सहभागी बन, विदेशी गुलामी को बहिष्कार के नारे बुलन्द कर अपनी पहचान बनायी। स्वतंत्रता आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी से समाज में एक नयी शुरुआत हुई जिससे उसका प्रभाव समाज पर सकारात्मक

दिखायी दिया जो आज एक बहस का मुद्दा बन पूरे विश्व में छाया है। कार्यक्षेत्र के वर्जित क्षेत्रों में स्त्रियों ने प्रवेश किया जिससे उनकी अपनी अस्मिता की अलग निर्माण की जद्दोजहद हुई। और अपनी समस्याओं को उठाने के लिए आवाज उठायी जबकि नवजागरण के आरम्भ में स्त्रियों से जुड़े हुए ज्वलंत मुद्दों को तो उठाया जाता था लेकिन कार्य क्षेत्र में स्त्रियों की कोई विशेष भागीदारी नहीं थी। इस संदर्भ में रेखा कस्तवार लिखती हैं— “स्त्री सशक्तीकरण की दिशा में स्वतंत्रता आन्दोलन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। परम्परागत सोच जो स्त्री के लिए घर और बच्चों के दायित्व को ही उनका एक मात्र दायित्व समझता है कि अपशब्द और ताने स्त्रियों का मार्ग अवरुद्ध नहीं कर सके। घर से निकलने का कारण रूढ़िवादी विचारधारा, पर्दा प्रथा से मुक्ति के अवसर उपलब्ध हुए स्त्री की परम्परागत अबला की छवि धूमिल हुए, पितृसत्ता का नियंत्रण कुछ कम हुआ। स्त्री की राजनीतिक इच्छा प्रकटीकरण हुआ।”¹⁸ इस प्रकार उपनिवेशवाद के दौर में स्त्री की अस्मिता निर्माण की अहम भूमिका दिखायी देती है। जिसमें उन्हें कई प्रकार की स्वतंत्रताएँ अर्जित हुईं। तभी से वह खुलकर लिखने-बोलने की मुद्रा में आने लगी।

संदर्भ ग्रंथ

1. उपनिवेश में स्त्री : मुक्ति कामना की दस वार्ताएँ, प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ. 9
2. वही, पृ. 152
3. वही, पृ. 152
4. भारत में स्त्री असमानता, गोपा जोशी, हिन्दी कार्यान्वयन निदेशालय हिन्दी विश्वविद्यालय, संशोधित संस्करण-2011, पृ. 114
5. सम्मेलन पत्रिका, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, भाग 100, संख्या 1, पृ. 66
6. स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-2013, पृ. 72
7. हिन्दी साहित्य का ओझल नारी इतिहास, नीरजा माधव, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2014, पृ. 23-24
8. स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-2013, पृ.
9. साहित्य संस्कृति एवं कला वार्ता की त्रैमासिक पत्रिका, वर्तमान संदर्भ, संपादक: समीता आनन्द, स्त्री मुक्ति : यथार्थ और यूयेपिच, पृ. 122
10. भारत में उपनिवेशवाद स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रवाद, शिवानी किकर चौबे (अनुवाद-मिलिंद भारद्वाज) ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, हिन्दी संस्करण, पृ. 170
11. स्त्रीत्व से हिन्दुत्व तक, चाक गुप्ता, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2012, पृ. 82-83
12. तद्भव, संपादक-अखिलेश, वर्ष 5, अंक-1 नवम्बर-2016, लखनऊ, पृ. 311
13. वही, पृ. 311
14. वही, पृ. 312
15. वही, पृ. 312
16. वही, पृ. 313
17. भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान, पवन कुमार वर्मा, (अनुवाद- अभय कुमार दुबे) राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-2009, पृ. 23
18. स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-2013, पृ. 73